इकाई 16 धर्म एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँ : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 पौराणिक हिन्दू धर्म

16.2.1 वैष्णववाद

16.2.2 शैववाद

16.2.3 शक्तिवाद

16.3 *भक्ति* आन्दोलन

16.3.1 *नयनार* और *अलवार*

16.3.2 *वीर शैव*

16.4 *भक्ति* परंपरा में लिंग-भेद

16.5 *भक्ति* आंदोलन का पतन

16.6 तन्त्रवाद

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.10 संदर्भ ग्रंथ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में धर्म के क्षेत्र में परिवर्तनों को पेश करना है। यह *भक्ति* आंदोलन और तन्त्रवाद पर केन्द्रित है। इस इकाई के माध्यम से आप निम्न बिन्दुओं को समझने में सक्षम होंगे।

- पौराणिक हिन्दू धर्म के विभिन्न रूपों के उदय होने की समझ;
- उन परिस्थितियों की समझ, जिन्होंने *भक्ति* आंदोलन को जन्म दिया;
- *भक्ति* आंदोलन के प्रक्षेप पथ की समझ;
- यह समझना कि कैसे अंततः *भक्ति* आंदोलन सामाजिक परिस्थितियों में भारी बदलाव नहीं ला पाया;
- तन्त्रवाद के उदय और उसके समावेश की समझ; और
- यह समझना की विभिन्न परंपराओं में तन्त्रवाद की स्थाई विरासत कैसे है।

16.1 परिचय

आपने पिछली इकाइयों में हिंदू धर्म के विकास के बारे में पढ़ा। छठी शताब्दी बी.सी.ई. में बौद्ध-धर्म, जैन धर्म और *अजिविक* जैसी कई वैधार्मिक परंपराओं का उद्‌य हुआ। बाह्मणवाद

*सुश्री जोइता पाल, पी.एच.डी. छात्रा, इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

का प्रसार पूरे महाद्वीप में भी जारी रहा। इससे पहले की अवधि में स्थानीय और जनजातीय देवताओं को पौराणिक ब्राह्मणवादी देव-गणों में शामिल किया गया था। ब्राहमणवाद को प्रबल किया गया और *ब्राह्मणों* को शासकों द्वारा भूमि-अनुदान के माध्यम से आगे बढ़ाया गया। इससे आदिवासी क्षेत्रों में उनका प्रवेश हुआ और राज्य और प्रशासन का विस्तार हुआ। ब्राह्मणवाद के भीतर कुछ तत्व दमनकारी हो गये थे और धार्मिक प्रथा बाहरी संस्कारों पर केन्द्रित थी। इस धार्मिक उत्पीड़न को निम्न जातियों और सामान्य रूप से स्त्रियों को झेलना पड़ा। इन परिस्थितियों में *भक्ति* और तन्त्रवाद की उत्त्पत्ति हुई।

यह विचारणीय है कि ऐसी दमनकारी व्यवस्था कैसे अस्तित्व में आई और उसने कैसे स्वयं को मज़बूत किया। भूमि संसाधनों के प्रचलित आवंटन ने समाज के एक आभिजात्य वर्ग के आधित्य का समर्थन किया। इस प्रकार आर्थिक शोषण सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में भी फैला। स्त्रियों को अपवित्र माना जाता था, उन्हें काम-इच्छा और प्रजनन की क्षमता के कारण पुरुषों की आध्यात्मिक प्रगति में बाधा के रूप में देखा गया। इस तरह के पितृ-सत्तात्मक विश्वासों के लगातार बने रहने के कारण उनकी अनुष्ठानिक जीवन और अन्य क्षेत्रों में भागीदारी कम हो गई।

भक्ति और तन्त्रवाद दोनों की विविध प्रकार की अभिव्यक्तियाँ थी और ये इस व्यापक घटना के लिए एक व्यापक पारिभाषिक शब्द की तरह हैं। इतिहासकारों के इस पर विभिन्न मत हैं कि इन पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत क्या शामिल किया जाए। फ़िर भी कुछ सामान्य सूत्रों में इसको समझा जा सकता है। भक्ति के विभिन्न आंदोलनों ने जाति, वर्ग और लिंग के भेद से ऊपर उठने का लक्ष्य अपने सामने रखा। मोक्ष के साधन के रूप में पाठ्यज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति पर जोर दिया गया। तन्त्रवाद ऐसे विश्वासों और प्रथाओं की एक श्रृंखला के रूप में शुरू हुआ जिसमें प्रकृति और देवी के सिद्धान्त रूप में स्त्री-पूजा पर ध्यान केन्द्रित किया गया। बाद में इसका मुख्यधाराओं की विभिन्न परम्पराओं में विलय हो गया।

16.2 पौराणिक हिन्दू धर्म

वैदिक ब्राह्मणवाद के पतन के साथ कई सम्प्रदाय उभरे जिन्होंने मिलकर पौराणिक हिन्दू धर्म का गठन किया। पौराणिक हिन्दू धर्म इसलिए एक विश्वास प्रणाली है, जिसमें औपचारिक रूप से कई धाराएँ हैं, जो स्थानीय धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं को आत्मसात और संश्लेशित करती है। इससे इसे विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न सामाजिक समूहों को अपने में आत्मसात करने में मदद मिली। हम जानते हैं कि पौराणिक हिन्दू-धर्म की विभिन्न धाराओं का निर्माण अनेक देवी-देवताओं के समूह से हुआ है। पौराणिक हिन्दू-धर्म का अस्तित्व तांत्रिक मान्यताओं और प्रथाओं के साथ-साथ अस्तित्व में था।

उस समय के मौजूदा वैदिक ब्राहमणवाद से पौराणिक हिन्दू धर्म में परिवर्तन अचानक नहीं हुआ था, बल्कि यह स्थानीय पंथों को आत्मसात करके उनसे वार्तालाप करने और उन्हें स्वयं में समाहित करने की एक धीमी प्रक्रिया थी। एक नयी प्रणाली में परिवर्तन का मतलब यह नहीं था कि वैदिक ब्राहमणवाद से जुड़े सभी पुराने विचारों को पूरी तरह से छोड़ दिया गया था, फ़िर भी वैदिक ब्राहमणवाद और पौराणिक हिन्दू धर्म के बीच अंतर आसानी से पहचाना जा सकता है जब हम दोनों के वर्णन ग्रन्थों में पढ़ते हैं। आपने पिछली इकाइयों में वैदिक ब्राहमणवाद के स्रोतों की जाँच की है। पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्रोत ग्रन्थों का एक ऐसा स्रोत है जिन्हें *पुराण* कहा जाता है। पुराणों की रचना तीसरी और चौथी शताब्दी सी.

ई. से हुई थी। उनकी रचना प्रारंभिक आधुनिक काल तक जारी रही। इसलिए हम वैदिक ब्राहमणवाद में परिवर्तन को वेद-शास्त्रों और पुराणों के बीच अन्तर से समझ सकते हैं। चूंकि पहले से मौजूदा विचार पूरी तरह से गायब नहीं हुए थे, इसलिए कहा जा सकता है कि वैदिक ब्राहमणवाद पौराणिक हिन्दू धर्म के एक घटक के रूप में बना रहा।

आप सवाल पूछ सकते हैं कि इस तरह का समावेश और आत्मसात क्यों आवश्यक था। इस प्रसंग का एक उत्तर उस समय की प्रचलित आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। ब्राहमणों को *ब्रहमदेय* के रूप में भूमि अनुदान प्राप्त होते थे और उनके लिए महत्वपूर्ण था कि वे स्थानीय लोगों से काम लें, और उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं को आत्मसात करें। इसलिए स्थानीय देवी-देवताओं को स्वीकारना और इन्हें हिन्दू धर्म में सम्मिलित करना ब्राहमणवाद के विस्तार की एक प्रमुख विधि थी और यह हिन्दू धर्म में अनेक देवी-देवताओं के होने के कारण था।

पौराणिक कथाओं और लोक-साहित्य भी विभिन्न मतों को ब्राहमणवाद के तहत लाने के लिए महत्वपूर्ण साधन थे। हम ये जानते हैं क्योंकि पुराण ऐसी पौराणिक कहानियों से भरे पड़े हैं जो एक व्यापक श्रौतागण को लुभा सकती हैं। पुराणों की विषय वस्तु उपदेशात्मक की अपेक्षा लोकप्रिय ज़्यादा है।

वैदिक ब्राहमणवाद से पौराणिक हिन्दू धर्म से परिवर्तन के दौर में धार्मिक गतिविधियों में कई परिवर्तन हुए। इस अवधि में अनुष्ठानों की गतिविधियाँ बढ़ी और अब ये अनुष्ठान वैदिक अनुष्ठानों से अलग थे। बलि के महत्व को कम होने के कारण पूजा और सामूहिक अनुष्ठानों की भूमिका मुख्य हो गई। मूर्ति-पूजा और मन्दिरों के भीतर पूजा भी महत्वपूर्ण हो गई। पूजा की गतिविधियों में वन-क्षेत्रों में पाये जाने वाले पौधों के पत्तों और फूलों को शामिल करना ब्राहमणवाद और उन मतों के बीच सम्बन्ध को दर्शाता है जिनको इसने आत्मसात किया। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों पर जाने और तीर्थ स्थलों को महत्वपूर्ण बनाने का कार्य हुआ। पुराणों में तीर्थ-स्थलों की एक विशाल संख्या का उल्लेख है। ऐसे तीर्थ-स्थलों का स्थान-नियोजन रणनीतिक था, क्योंकि वे विशेष रूप से केन्द्रीय ब्राहमणवादी क्षेत्रों से दूर के क्षेत्रों में स्थित थे। यह स्थानीय पंथों के साथ ब्राहामणवाद के जुड़ाव की दिशा में एक कदम था।

पौराणिक हिन्दू धर्म के मुख्य सम्प्रदायों की यहाँ चर्चा की जाएगी, वे शैववाद, वैष्णववाद व शक्तिवाद हैं। तीनों अनेक स्थानीय पंथों और परंपराओं को अपने अन्दर समाहित करने में सक्षम थे। स्थानीय देवताओं को तीन मुख्य देवताओं के अवतार के रूप में दर्शाया गया था।

16.2.1 वैष्णववाद

विष्णु का पहला उल्लेख वेदों में आता है। जहाँ उन्हें कुछ स्तुति स्तोत्र समर्पित हैं। ब्राहामण ग्रन्थों के एक वर्ग में उनका अधिक उल्लेख है। ये ग्रन्थ विष्णु को सर्वोच्च देवता मानते हैं। जबकि वैष्णववाद उपमहाद्वीप में बड़े पैमाने पर फैला था, यह उपमहाद्वीप के पूर्वी हिस्सों में विशेष रूप से प्रमुख था।

जैसा की ऊपर चर्चा की गई है, स्थानीय पन्थ पौराणिक हिन्दू धर्म की तीन धाराओं में से प्रत्येक में अवशोषित किए गए थे। वैष्णववाद ने नारायण, जगन्नाथ, वेकंटेश्वर और अन्य पन्थों को समाहित किया था। विष्णु के विभिन्न अवतार इन पन्थों के समावेश के लिए एक माध्यम बनते हैं। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि बुद्ध का एक विष्णु के अवतार के रूप में समावेश बौद्धों को वैष्णववाद के तहत लाने के प्रयासों से उपजा एक कदम था। इसी तरह एक जैन *तीर्थंकर* को भी सम्मिलित किया गया था।

वैष्णववाद ने राम और कृष्ण के दो महत्वपूर्ण विष्णु के अवतारों से प्रसिद्धि प्राप्त की, जिसे मुख्य रूप से *भक्ति* आन्दोलन के माध्यम से मशहूर किया गया था। महाभारत की कृष्ण परंपरा और *रामायण* के राम-पंथ ने अपने-अपने लोक वत्तांतों को महाकाव्य के वर्णन में शामिल करके सामाजिक समूहों को आत्मसात किया, लेकिन उनके देवी-देवता हमेशा *ब्राह्मण* देवताओं के अधीन थे।

16.2.2 शैववाद

शैववाद को उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में विशेष रूप से कश्मीर में प्रमुखता मिली। शैववाद में आत्मसात करने की प्रक्रिया अलग थी। शैववाद द्वारा आत्मसात किये गए पंथों की पहचान उपसर्ग *ईश* या *ईश्वर* को स्थानीय देवता के नाम के सामने रखकर की जाती है, जैसे कि भूतेश्वर या चन्देश्वर। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि शिव के बालक वास्तव में स्थानीय पंथों के प्रमुख देवता थे, जिन्हें बड़े पौराणिक वृत्तांत में शामिल कर लिया गया था। इस प्रकार उनके पुत्र स्कन्द जिन्हें कुमार के नाम से भी जाना जाता है, को सुब्रमण्यम, मुरुगन और कार्त्तिकेय के रूप में पूजा जाता है। इसी प्रकार उनकी पत्नी पार्वती के बारे में कहा जाता है कि वे मूलतः एक पर्वतीय देवी थी।

शैववाद के अन्तर्गत अन्य पंथों के सांस्कृतिक समावेश को पहचानने का तरीका शिव के षरीर के आभूषणों को पहचानने के साथ-साथ उनकी पौशाक भी है। कुछ इतिहासकारों द्वारा उनकी पौशाक को आदिवासी मूल के रूप में भी वर्णित किया गया है। वे इस बात को इंगित करते हैं कि सर्प शिव के व्यक्तित्व का अनिवार्य हिस्सा है। इसके अतिरिक्त शिव का उर्वरता के साथ मज़बूत सम्बन्ध स्थानीय उर्वरता पंथों और उनके व्यवहार से लिया गया है।

16.2.3 शक्तिवाद

शक्तिवाद की धारणा एक देवता पर आधारित नहीं है। यह मूलरूप से ब्राह्मणवाद में स्त्री-शक्ति के सिद्धान्त के रूप में शुरू हुआ। शक्ति, सिद्धान्त रूप में, तीन मुख्य देवताओं की पत्नी थी। इस प्रकार वह ब्रह्मा के लिए सरस्वती, विष्णु के लिए लक्ष्मी और शिव के लिए दुर्गा या पार्वती थी। शुरुआती शताब्दी में ही शक्ति देवी बन गई थी और उसकी पूजा के लिए समर्पित एक पंथ विकसित हो गया था। चूंकि मातृ देवी के रूप में स्त्री सिद्धान्त की पूजा ऐसे सामूहिक समूहों में सामान्य बात थी, जो ब्राहमणवाद से अछूते थे। शक्ति पंथ तन्त्रवाद के केन्द्र में प्रमुख विचार था और इसके काफ़ी अनुयायी थे। शक्तिवाद का मुख्य ग्रन्थ *देवीभागवत पुराण* है।

वेदों में कोई प्रमुख महिला देवता नहीं है। प्रारम्भिक साहित्य में महिला देवता का संक्षिप्त उल्लेख पुरुष देवताओं से स्वतंत्र नहीं है। ऊर्जा या शक्ति का इन्द्र की पत्नी के रूप में विचार मौजूद है। लेकिन यह बाद के समय तक सम्पूर्णता में विकसित नहीं हुआ है। इसलिए इस तथ्य से देवी का गैर ब्राहमणवादी मूल निर्धारित करने में कठिनाई नहीं है। क्योंकि प्रथम ब्राहमण ग्रन्थों में उनका उल्लेख नहीं है। देवी का नाम कई *पुराणों* में आता है और विशेष रूप से *देवी महात्मय* में। विभिन्न पंथों के विभिन्न देवी रूप धीरे-धीरे एक मुख्य देवी के रूप में पहचाने जाने लगे। जहाँ, शक्तिवाद स्त्री सिद्धांत को एक सार्वभौमिक दिव्य शक्ति के रूप में प्रयोग में लाता है, परन्तु यह बहस का मुद्दा है कि क्या इससे महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार हुआ।

इस प्रकार वैदिक ब्राहमणवाद का स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म ने ले लिया। परिणामस्वरूप यह परिवर्तन एक बड़ी संख्या में देवगण और विश्वास की एक नयी व्यवस्था के निर्माण की

और ले जाता है। यह व्यवस्था विभिन्न पथों के तत्वों से बनी थी, जिन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म के दायरे का विस्तार किया। इसके साथ-साथ पूजा के तौर तरीकों के रूप में धार्मिक व्यवहार में भी परिवर्तन हुए, इसके साथ अनुष्ठानों की प्रकृति और अनुष्ठानों के सम्पन्न कराने के स्थान भी बदल गये। तांत्रिक तत्वों ने भी इसी समय के आसपास हिन्दू धर्म में प्रवेश करना शुरू कर दिया। पौराणिक हिन्दू धर्म द्वारा लाये गये नये विचारों को विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रचारित किया गया, लेकिन इसमें मुख्यतः *भक्ति* आन्दोलन की भूमिका थी जिसकी चर्चा अगले भाग में की जाएगी।

16.3 *भक्ति* आन्दोलन

भारत में धर्म के इतिहास का अध्ययन करने में *भक्ति* आन्दोलन महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उपमहाद्वीप का एक सबसे व्यापक धार्मिक आन्दोलन था। इसको एक विशेष समय और स्थान पर आधारित एक घटना के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह दक्षिण भारत से उत्तर की ओर फैल गया। इसकी शुरुआत शैव *नयनारों* और वैष्णव *अलवारों* ने वर्तमान तमिलनाडू में छठी शताब्दी के आसपास की थी। इस प्रकार प्रारंभिक *भक्ति* आन्दोलनों का नेतृत्व अलवारों ने, जो विष्णु के भक्त थे और नयनारों ने, जो शिव के भक्त थे, किया। प्रारंभिक चरण में दक्षिण के भागवत आन्दोलनों में बहुत कम गैर ब्राहमण लोग और महिलाएँ शामिल थी, लेकिन बाद में इसमें बदलाव आया। ये प्रारंभिक आन्दोलन प्रारंभिक मध्ययुगीन राज्यों जैसे पल्लव, चोल, पांड्य और चेर के उद्‌य के साथ-साथ विकसित हुए जिन्होंने इनका समर्थन किया। दूसरी ओर उत्तर भारत में इस समय वैधार्मिक परंपराओं को राजनैतिक संरक्षण प्राप्त नहीं था।

भक्ति आंदोलनों में भगवान और भक्त के बीच के सम्बन्ध पर कई प्रकार के दृष्टिकोण थे। *भक्ति* में एक व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर की *भक्ति* शामिल थी। इसका मुख्य बिन्दु यह था कि एक भक्त और उसके भगवान के बीच पुजारी की मध्यस्थता जरूरी नहीं थी। इस प्रकार *भक्ति* आन्दोलन ने पुजारी के रूप में मध्यस्थ को रास्ते से हटा दिया। कुछ *भक्ति* परंपराओं में ईश्वर को इतना अंतरंग माना जाता था कि ईश्वर स्वयं व्यक्ति का हिस्सा बन जाए।

ईश्वर के प्रति प्रेम और *भक्ति* विभिन्न सम्बन्धों के रूप में परिकल्पित है। *वरकरी* सम्प्रदाय के लिए सम्बन्ध की परिकल्पना एक बालक (भक्त) के रूप में की जाती है, जो अपने माता-पिता के साथ होता है, मुख्य रूप से माँ के साथ। कभी-कभी जब भक्त भगवान से अलग हो जाता है तो उस विरह का दर्द भक्त के कार्यों को संचालित करता है। वैष्णव और शैव परम्पराओं में ईश्वर के लिए आत्मा की इच्छा को प्रेम के सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है। विरह की अवधारणा ने दाम्पत्य अलगाव का वर्णन करने वाले लोक गीतों को समाहित करने का एक मार्ग प्रदान किया।

इससे पहले गृहस्वामी के अनुष्ठान-कर्म और तपस्वियों के त्याग पर बल दिया जाता था। अब इस नये विकल्प ने सर्वोच्च देवता के लिए व्यक्तिगत *भक्ति* पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। *भक्ति* मार्ग में सर्वोच्च सत्ता के प्रति गहरी श्रद्धा और प्रेम निहित था। इस प्रकार पूजा-पाठ की विधियों में मन्दिरों में पूजा और अनुष्ठानों से लेकर आन्तरिक आध्यात्मिकता तक की विधियाँ प्रचलित थी। इसलिए जहाँ अनेक *भक्ति* परम्पराओं ने बाहरी धार्मिक प्रथाओं और कर्मकाण्डों को खारिज कर दिया, लेकिन सभी ने ऐसा नहीं किया। कुछ सन्त कवि इस तरह से कर्मकाण्डों की बजाए सभी मानवीय गतिविधियों में भगवान के रूप को देखने की वकालत करते हैं।

इसलिए *भक्ति* को वास्तव में सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता। प्रत्येक *भक्ति* समूह की अलग-अलग मान्यताएँ थी। प्रत्येक परम्परा के साहित्य में एक आम बात है लेकिन प्रत्येक

की शैली और रचना के लहजे में भिन्नता है। *भक्ति* आन्दोलन का नेतृत्व विभिन्न समूहों और लिगों से आए भक्तों ने किया। इसमें कई व्यक्ति गैर-ब्राहमण थे। वे जीवन का परित्याग करने वालों से भिन्न थे। जहाँ उनके परिवारों के साथ सम्बन्ध समाप्त नहीं हुए थे, फ़िर भी वे सांसारिक सम्बन्धों से अलग थे। इस अर्थ में उन्होंने कभी-कभी परिवार और महिलाओं को दाम्पत्य दृष्टिकोण से अच्छा नहीं माना। जहाँ वे जादू-टोने के साथ नहीं जुड़े थे, वहीं चमत्कार उनकी आत्मकथाओं का एक हिस्सा था।

कुछ लोग यह तर्क देंगे कि सभी *भक्ति* आन्दोलनों के बीच सन्त कवियों की भूमिका मुख्य है। इन परम्पराओं की पहचान यह है कि उनके रचयिता सन्त कवि थे जिन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं में मौखिक शब्दों और गीतों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त किया, इस प्रकार उन्होंने स्वयं को आम लोगों की भाषा में व्यक्त किया। उनकी कविताओं और गीतों को उनके निधन के बाद उनके अनुयायियों द्वारा संकलित किया गया था। जैसे-जैसे इन परम्पराओं का गठन किया गया वैसे-वैसे अनुयायी उन पुराने विचारों को हटाते गये जो अब सार्थक नहीं थे, और नये जोड़ते गये। अधिकांश स्रोत एक मौखिक परंपरा के माध्यम से हम तक पहुँचे हैं, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक बोल कर प्रेषित करता है। इन आन्दोलनों ने अपने-अपने संदर्भों में पारंपरिक रूप से वंचित लोगों के लिए पवित्र धार्मिक स्थान खोल दिये। यह स्थान परंपरागत रूप से उनके लिए बन्द कर दिया गया था क्योंकि निरक्षर होने के कारण उनके पास लिखित धार्मिक ग्रन्थों तक कोई पहुँच नहीं थी और इस तरह वे केवल मध्यस्थों के माध्यम से उन तक पहुँव सकते थे। इसलिए *भक्ति* आन्दोलनों का एक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने संगीत और काव्य रचनाओं के माध्यम से मौखिक परंपराओं को मज़बूत किया और उन्हीं के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया। उत्तर भारत की परंपरा ने *पद* नामक छोटी कविताओं का उपयोग किया जिनको रागों में ढाला जा सकता था, इसलिए कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि इनका उद्देश्य मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को पलटना नहीं था, बल्कि उसी के अन्तर्गत नये पवित्र स्थानों का निर्माण करना था।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- भक्त सन्तों ने एक सर्वोच्च देवता की पूर्ण *भक्ति* पर बल दिया।
- मुक्ति अब केवल उच्च *जाति* के पुरुषों तक सीमित नहीं थी और इसका मार्ग निम्न जातियों के पुरुषों और महिलाओं के लिए खुल गया।
- धार्मिक नेता ब्राहमण अधिकारियों से सन्त कवियों में परिवर्तित हो गये।
- संस्कृत अब केवल धार्मिक ग्रन्थों के लिए एक मात्र भाषा नहीं रही। अन्य देशी भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये और ग्रन्थों का अनुवाद किया गया।
- ब्राहमणवादी आधिपत्य और पितृसत्ता दोनों को चुनौती दी गई लेकिन उन्हें उखाड़ा नहीं जा सका।
- *भक्ति* आन्दोलन ने सिद्धांत की अपेक्षा जीवंत अनुभव पर जोर दिया।

16.3.1 *नयनार* और *अलवार*

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि *भक्ति* आन्दोलन *नयनारों* और *अलवारों* के आंदोलनों से शुरू हुआ था, वे क्रमशः विष्णु और शिव की *भक्ति* करते थे। जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ा, स्थानीय देवताओं के साथ आदिवासी देवताओं को वैष्णववाद और शैववाद में आत्मसात् किया। मुरुगन, एक आदिवासी देवता को ब्राहमणवादी दायरे में इस प्रक्रिया के तहत लाया गया था। मायन वैष्णवाद में शामिल एक आदिवासी देवता थे। दोनों

परम्पराओं में स्थानीय प्रमुखों को ब्राहमण से कम दर्जा देकर शामिल करने की अपनी क्षमता के कारण शैववाद ने एक व्यापक आधार विकसित किया। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि शैववाद का अनुसरण करने वाले वैष्णववाद की तुलना में समाज के निचले तबकों से आते थे।

इन सम्प्रदायों को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त था, जो मंदिरों के निर्माण और मूर्तियों की स्थापना से देखा जा सकता है। इन सम्प्रदायों ने बौद्ध और जैन परम्पराओं सहित अन्य सभी परम्पराओं का मुखर विरोध किया। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि ऐसा हो सकता था क्योंकि सभी परम्पराएं राजनैतिक संरक्षण के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही थी। उदाहरण के लिए, चोल शासकों ने भूमि अनुदान और मन्दिरों का निर्माण करके ब्राहमणवाद और *भक्ति* आन्दोलन दोनों का समर्थन किया, हालांकि शुरू में अपनी समानता का दावा करते हुए *अलवार* और *नयनार* की परम्पराएं बाद में एक दूसरे के प्रति काफ़ी शत्रुतापूर्व हो गई।

उन्हें किसान जनता का समर्थन मिला। अलवारों और नयनारों की स्तुतियाँ लोकगीतों के छन्दों की तरह लिखी गई थीं, इसलिए वे अधिक लोकप्रिय संगीत परंपरा का हिस्सा थी। इनके द्वारा बिना ब्राहमण मध्यस्थ के ईश्वर के साथ सम्बन्ध पर जोर देने के साथ-साथ ब्राहमणवादी संस्कृत के विपरीत देशी भाषा के माध्यम पर जोर दिया गया। इन *भक्ति*-आन्दोलनों के प्रत्यक्ष परिणामों में से एक विभिन्न स्थानीय विभाजनों को समाप्त करने वाली तमिल भाषी चेतना का उदय था।

16.3.2 *वीर शैव*

कर्नाटक में *भक्ति* आन्दोलन *वीर शैवों* के द्वारा हुआ। यह 12वीं शताब्दी में बसवन्ना द्वारा शुरू किया गया। इसके अनुयायियों को *लिंगायत* के नाम से जाना गया। वे *जाति* पदानुक्रम और कुछ समूहों से जुड़ी मलिनता की धारणा के खिलाफ थे। यह ब्राहमणवादी श्रेष्ठता और कुछ हद तक पितृ-सत्ता के खिलाफ था। जब बसवन्ना कलचूरियों के अधीन मन्त्री बन गये तो ब्राहमण रूढ़िवादियों ने उनके समतावादी आन्दोलन के खिलाफ कठोर संघर्ष करते हुए रक्तपात और निर्वासन के साधन अपनाए।

यह ब्राहमणवादी उत्पीड़न और पितृ-सत्ता के खिलाफ आवाज़ उठाने में दूसरों की तुलना में अधिक सफल रहा। हालांकि जहाँ तक बड़ी तस्वीर का सवाल है यह पहले से मौजूद संरचनाओं को केवल कुछ हद तक ही प्रभावित करने में सफल रहा। यह आन्दोलन इस विश्वास पर आधारित था कि निम्न जातियों की महिला और पुरुष, उच्च जातियों के महिला और पुरुषों की तुलना में, देवत्व के अधिक करीब थे। लिंग के सन्दर्भ में अंतिम लक्ष्य लैंगिक भेदों को पार करके उभयलिंगी बनने का था। इसीलिए वीर शैववाद लिंग और *जाति*भेद में विश्वास नहीं करता था। इसके प्रारंभिक संस्थापकों में बसवा एक ब्राहमण, सत्यका एक मेहतर और कक्काया एक कसाई शामिल थे। इस प्रकार जहाँ धार्मिक समानता पर बल दिया गया था, आर्थिक और व्यवसायिक क्षेत्र में समानता का विस्तार नहीं अपनाया गया था। *जाति* और लिंग पदानुक्रमों में विश्वास का ना होना जन्म से दिखाई पड़ता है, जहाँ ब्राहमणवादी दीक्षा समारोह ब्राहमण पुरुषों तक ही सीमित था, वहीं वीर शैववाद में प्रत्येक बच्चे को एक शिव लिंग दिया जाता था और शिव-पचांक्षरी को *जाति* और लिंग के भेद को ध्यान में ना रखकर सभी जन्में बच्चों के कानों में फुसफुसाया जाता था।

16.4 *भक्ति* परम्परा में लिंग भेद

जाति के प्रति अपनी आपत्तियों के साथ, *भक्ति* ने लिंग भेद की प्रचलित धारणाओं को भी तोड़ दिया, हालांकि इसने इन धारणाओं को चुनौती दी लेकिन यह पितृ-सत्तात्मक उत्पीड़न

को उखाड़ फेंकने में कभी सफल नहीं हुआ। विभिन्न *भक्ति* परंपराओं ने लिंग-भेद को विभिन्न तरीकों से निपटाया और अलग-अलग हद तक पितृसत्ता पर सवाल उठाये और चुनौती दी। *वीर-शैव* परम्परा के अनुसार महिलाओं में कोई मलिनता नहीं होती क्योंकि शिव-लिंग सभी अशुद्धियों को दूर करता है। फ़िर भी सामाजिक व्यवहार में महिलाओं को धार्मिक समानता प्राप्त नहीं हुई, वे धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन नहीं कर सकती थी और ना ही मठ की धार्मिक संस्था की प्रमुख बन सकती थी। हालांकि महिला संत मौजूद थी और वे सभी *जाति*-समूहों से आई थीं। वास्तव में कई महिला सन्त *शूद्र* और अछूत थी। कुछ अविवाहित थी, जबकि अन्य विवाहित पति के साथ समान रूप से वीर-शैववाद के लिए समर्पित थी। यह ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात है कि वीर शैववाद में सभी *भक्ति* परम्पराओं से ज़्यादा महिला अनुयायी थी। वधू रहस्यवाद का रूपक जिसमें भक्त ने स्वयं को भगवान से विवाहित होने की कल्पना की, एक महत्वपूर्ण उपकरण था। अदंल, *अलवारों* की एकमात्र महिला संत थी। कृष्ण के लिए उनके प्रेम ने वधू रहस्यवाद का रूप किया था, क्योंकि उन्होंने स्वयं की आध्यात्मिक विवाह के रूप में भगवान की वधू के रूप में कल्पना की थी।

शिव को शाश्वत वर और भक्त को एक सदाचारी पत्नी के रूप में कल्पना करके स्वयं को लिंग-भेद से ऊँचा उठाया गया। इसलिए बसवा ने खुद को वधू के रूप में प्रस्तुत किया। *अर्ध-नारीश्वर* अर्थात आधे पुरुष और आधी स्त्री के रूप में शिव पहले लक्ष्य की प्राप्ति को दर्शाता है। जबकि अन्तिम लक्ष्य लिंग के भेद से ऊपर उठकर उभयलिंगी और अलैंगिंगकता की ओर जाता है। अक्का महादेवी ने स्वयं कहा था कि उनका रूप महिला का है, लेकिन सिद्धांत रूप में वह पुरुष भी हैं।

अक्का महादेवी वीर शैववाद में अपने दृढ़ और उग्र-विश्वास के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। उसके कामुकता से ऊपर उठने का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त किया। एक ओर उदाहरण शैववादी पंरम्परा से दिया जा सकता है। कराईकल अम्मैयार एक महिला शैववादी सन्त अपने तप को चरम सीमा पर ले गई, जहाँ उनकी शरीर कंकाल रूपी हो गया। इसके बाद वह एक देवी के रूप में ब्राहमणवादी मुख्यधारा के रूप में शामिल कर ली गई, जिसका वरदान संतान प्रदान करता है।

पितृ-सत्ता को एक अप्रत्यक्ष चुनौती देने के लिए एक अन्य तरीका पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं से बाहर निकल जाना था, जहाँ सांसारिक पति को अस्वीकार कर दिया गया था, और शिव को पति के रूप में घोषित किया गया था, यह ऊपर दिये गये अक्का महादेवी, और कराईकल अम्मैयार के उदाहरणों में देखा जा सकता है। पितृ-सत्ता को चुनौती देने के बावजूद ग्रहणी की बजाए आध्यात्मिक जीवन का चुनाव करने के बावजूद, कई महिलाओं ने फ़िर भी अपने आध्यात्मिक अस्तित्व को एक परिवार के सदस्य के रूप में ही देखा। कुछ कल्पनाओं में भगवान को आध्यात्मिक पति के रूप में माना गया और कुछ महिला सन्तों ने स्वयं को शिव की सन्तान के रूप में पेश किया।

16.5 *भक्ति* आन्दोलन का पतन

इसके प्रसार की दृष्टि से आन्दोलन को बहुत सफलता मिली। यह उपमहाद्वीप के विशाल हिस्सों में फैला और इसने समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों को शामिल किया। इस प्रक्रिया में यह दक्षिण में बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव को कम करने में सफल रहा। हालांकि आन्दोलन अन्ततः समाप्त हो गया, क्योंकि यह धीरे-धीरे उस पितृसत्तात्मक, ब्राहमणवादी व्यवस्था का भाग बन गया जिसके विरूद्ध यह उभरा था।

भक्ति आन्दोलन की सफलता की कमी को बड़े पैमाने पर सामाजिक गतिशीलता हासिल ना कर पाने की कमज़ोरी के कई कारण बताए गये हैं। कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि यह हो सकता है कि आन्दोलन द्वारा समर्पित लोकतान्त्रिक मूल्य लोगों को उस समय जोड़ने के लिए पराये थे। कुछ लोगों का तर्क है कि एक तरह से *भक्ति* आन्दोलन ने *वर्ण*-व्यवस्था को पर्याप्त चुनौती नहीं दी। कुछ धाराओं ने एक *शूद्र* को ब्राहमणवादी ज्ञान ग्रहण करने की अनुमति दी, लेकिन समस्या यह थी कि उसने ब्राहमणवादी वर्चस्व को चुनौती नहीं दी और ब्राहमणवादी शिक्षा को अन्तिम लक्ष्य बना दिया। बाहरी आडम्बर की अस्वीकृति की भी अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग सीमाएं थी।

जैसा कि चर्चा की गई है कि दक्षिण के *भक्ति* आन्दोलनों को उत्तर के आन्दोलनों के विपरीत राजनैतिक संरक्षण प्राप्त हुआ। *नयनार* और *अलवार* को प्राप्त हुए राजनैतिक सरंक्षण के परिणाम स्वरूप ही यह आन्दोलन उन मूल्यों को खो देता है जिनका यह समर्थन करता आया था। धीरे-धीरे ब्राहमण और भू-सम्पत्तिवान वर्ग से जुड़े प्रभावशाली समूह अनुष्ठानों के पुरोहित के रूप में वापस आ गये। इससे भगवान और भक्त के बीच के मध्यस्थ को हटाने वाला आन्दोलन का मूल्य लक्ष्य पीछे छूट गया।

बोध प्रश्न 1

1) *भक्ति* आन्दोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आपके विचार में *भक्ति* आन्दोलन कितना सफल रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

16.6 तन्त्रवाद

उस समय उपमहाद्वीप में मौजूद सभी धर्मों ने एक तांत्रिक रूप विकसित किया। यह इस चीज को दर्शाता है कि तन्त्रवाद की विशेष क्षमता के कारण यह मुख्यधारा में धर्म का हिस्सा बन जाता है। इसलिए इसे वास्तव में एक समानान्तर व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। इसने हिन्दू धर्म के तहत शक्तिवाद और बौद्धधर्म के तहत *वज्रयान* जैसी नई धार्मिक प्रणालियों का निर्माण किया। तांत्रिकों द्वारा उर्वरता पर बल देने के कारण मातृदेवी पंथों के पक्ष में विचार को पुष्टि मिली। आदिवासियों के संस्कार और कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद के बीच खासतौर पर मातृदेवी के पंथ से सम्बन्धित कर्म-काण्ड में परस्पर एक सम्बन्ध अक्सर दिखाया जाता है। तन्त्रवाद की उत्पत्ति के संकेत अक्सर इसी पर आधारित है। कुछ

इतिहासकार तांत्रिक अनुष्ठानों के लक्षण अजीविका सम्प्रदाय के व्यवहार में देखते हैं, जो बाद में *पाशुपत* सम्प्रदाय में अन्तर्निहित हो गये। इस संदेहास्पद उत्पत्ति की धारणा के बावजूद तन्त्रवाद की पहली धाराएं लगभग 500 सी.ई. से शुरू हुई और तन्त्र नाम के पहले ग्रन्थों की रचना 800 सी.ई. के आसपास हुई। इससे पहले के शुरुआती अप्रत्यक्ष पाठ्य प्रमाण, 7वीं शताब्दी में बाणभट्ट की *कादम्बरी* और *हर्षचरित,* महेन्द्रवर्मन की *मतविलास* और दन्डिन की *दशाकुमार चरित* जैसे संस्कृत ग्रंथों में मिलते हैं। सबसे पहला पुरान्लेख साक्ष्य राजस्थान के गंगाधर में पाया गया विश्ववर्मन का एक शिलालेख है, जो 423 सी.ई. का है। ऐसा लगता है कि तांत्रिक धर्म 8वीं और 18वीं सदी के बीच पनपता है। मुख्यधाराओं की प्रथाओं पर तन्त्रवाद का प्रभाव 1000 सी.ई. तक देखा जा सकता है। तान्त्रिक धर्म की उत्पत्ति तन्त्र, अगम और संहिता से हुई है चूंकि ये ग्रन्थ संस्कृत में रचे गये थे, इसलिए यह माना जाता है कि उनके मुख्य श्रोता साक्षर और शहरी थे और इसलिए वे उच्च जातियों से सम्बन्धित थे, फ़िर भी तन्त्रवाद उससे कहीं अधिक विस्तृत था। इसमें लोकप्रिय जादू पर आधारित प्रथाओं को शामिल किया गया था जिनमें संकट और *हठ योग* परम्परायें शामिल थी। इन परम्पराओं के स्रोत देशी भाषाओं में है। इसलिए उनकी पहुँच भी व्यापक थी। इसलिए तांत्रिक धर्म में निम्न जातियों के सदस्य और यहाँ तक की ग्रामीण क्षेत्रों के लोग भी शामिल रहे होंगे। इसका अनुसरण उपमहाद्वीप के उत्तरी हिस्सों में ज़्यादा किया गया, जबकि दक्षिण में बहुत कम सबूत मिले हैं। इसका सबसे बड़ा अनुसरण वर्तमान बिहार, बंगाल, असम, कश्मीर, नेपाल, तिब्बत पंजाब और राजस्थान में हुआ।

भक्ति की तरह ही तन्त्रवाद के उदय के कारणों का पता लगाना महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों का तर्क है कि मुख्यधारा वाला धर्म लोगों की समझ से परे हो गया था। यह अब लोगों को धार्मिक जरूरतों को पर्याप्त रूप से सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा था। इसने तन्त्रवाद क माध्यम से धर्म के लोक तत्वों को मुख्यधारा में शामिल किया गया। इसमें पन्थों की और जन-जातियों की प्रथाएँ भी शामिल थी। इस प्रकार तन्त्रवाद ने आदिवासी देवी-देवताओं और प्रथाओं को मुख्यधाराओं में शामिल किया। विशेष रूप से देवियों को तन्त्रवाद के स्त्री सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण उन्हें मुख्यधारा में शामिल किया गया।

7वीं शताब्दी के दौरान बिहार में तान्त्रिक बौद्ध मठों का विकास हुआ। तारा पन्थ तन्त्रवाद का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। उन्हें *बोधिसत्व* अवलोकितेश्वर के समकक्ष स्त्री-शक्ति का प्रतिरूप माना जाता है। तान्त्रिक तत्वों ने वैष्णववाद में भी प्रवेश किया, क्योंकि एक तांत्रिक मातृदेवी को विष्णु की पत्नी के रूप में दर्शाया गया। मातृकाएं भी वैष्णववाद का एक हिस्सा है। वैष्णवी उनमें से एक मानी जाती है। तांत्रिक-धर्म के तहत विभिन्न प्रकर के अभ्यास को शामिल किया जा सकता है। इसमें समनवादी, यौगिक, साक्त पूजा, मातृकाओं की पूजा, ब्राहमणवादी और बौद्ध देवियों की तांत्रिक रूप में पूजा, कापालिकों और कौलों के मत भी शामिल थे। मातृकाओं को सात देवियों का एक समूह माना जाता है, जिन्हें माता माना जाता है। शैव सिद्धों के तान्त्रिक सम्प्रदाय को अगमन्त शैववाद कहा जाता था। यह 11वीं शताब्दी में फला-फूला और चोल राजा इसके संरक्षक थे। *भक्ति* की तरह ही तन्त्रवाद भी विभिन्न मान्यताओं और व्यवहारों के लिए एक सामान्य शब्द है। हालांकि तन्त्रवाद की विभिन्न धाराओं के बीच समानताओं में सूक्ष्म भेद कम है और ये आसानी से पहचानें जा सकते हैं। दो मौलिक सिद्धांत सभी प्रकार के तन्त्रवाद का आधार है। प्रथम तन्त्रवाद वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। दूसरा उर्वरता सिद्धांत। जैसा की ऊपर तर्क दिया गया है, तन्त्रवाद उन लोगों की धार्मिक जरूरतों को पूरा करने के लिए पैदा हुआ जो बौद्धिक धर्म और सुसम्पन्न अनुष्ठानों से नहीं पूरी हो रही थी। तन्त्रवाद में सामान्य रूप से पुरुष की अपेक्षा प्रकृति के स्त्री सिद्धांत का अधिक महत्व है। प्रत्येक सिद्धांत की परिकल्पना पुरुष या स्त्री के रूप में की जाती है और दोनों के मिलन से सृजन होता है।

दूसरे सिद्धांत जो एक परम्परा से दूसरी परम्परा में भिन्न थे, उन पर संक्षेप में चर्चा की जा सकती है। यह *जाति* व्यवस्था और पितृसत्ता को खारिज करने से शुरू हुआ, उनके सबसे प्रमुख शिक्षक समाज के निचले वर्गों से आए थे। इन्होंने माना कि अपने कार्य और व्यवसाय को चाहे वह जैसा भी हो, ईमानदारी से करते हुए मुक्ति तक पहुँचा जा सकता था। तन्त्रवाद में मासिक धर्म के रक्त को मलिन नहीं माना जाता था बल्कि इसे पवित्र माना जाता था।

तन्त्रवाद मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता था, क्योंकि इसके अनुसार मानव शरीर ब्रह्मांड के एक सूक्ष्म जगत के रूप में कार्य करता था। मानव शरीर में महिला और पुरुष दोनों के सिद्धांत शामिल है, और तांत्रिक साधना का अन्तिम लक्ष्य दोनों तत्वों के मिलन का था, इसलिए शरीर का रखरखाव भी महत्वपूर्ण था और अंततः मृत्यु पर विजय प्राप्त करना था।

तांत्रिक पंथों में महिलाएं आध्यात्मिक नेता बन सकती थी। वे इस प्रकार तन्त्रवाद के सिद्धांतों और विश्वासों में दक्ष थी। इसमें *जाति*गत सीमाओं का उल्लंघन किया गया। तन्त्रवाद में शक्ति की पहचान मुख्यधारा के देवताओं की पत्नी के रूप में की गई, जैसे विष्णु की शक्ति लक्ष्मी, कृष्ण की शक्ति राधा, शिव की सती देवी और बोधिसत्वों से जुड़ी अलग-अलग देवियों। तन्त्रवाद की रूप-रेखा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसको नये क्षेत्रों में आदिवासी समुदायों में ब्राहमणवादी प्रसार को सक्षम बनाने में कुछ सफलता मिली। कुछ इतिहासकार तन्त्रवाद को स्त्रियों को बौद्ध और जैन-धर्म में लाने का श्रेय देते हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दू

- *तन्त्र* शब्द का प्रयोग शुरू में एक मार्गदर्शक सिद्धान्त के संदर्भ में किया गया, लेकिन बाद में इसका इस्तेमाल धार्मिक अर्थों में किया जाने लगा।
- *दीक्षा* तांत्रिक विश्वास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी, और इसे पुनर्जन्म के रूप में देखा गया।
- तन्त्र मानव शरीर को ब्रह्मांड का स्वरूप मानता है। यह बड़े पैमाने पर चिकित्सा, रसायन और शरीर विज्ञान के साथ घनिष्टता से जुड़ा हुआ था।
- समय तन्त्रवाद के लिए केन्द्रीय भूमिका में था।
- इसने वैदिक तपस्या को अस्वीकार कर दिया।
- उर्वरता पंथ इसके लिए महत्वपूर्ण था और इसका विस्तार भूमि की उर्वरता के संदर्भ में किया गया।

कालान्तर में तन्त्रवाद वर्ग के आधार पर भेद-भाव करने लगा। ग्रन्थों से प्राप्त वैध शिक्षा का महत्व बढ़ने से अशिक्षित इससे दूर हो गये। बाद के दिनों में यह मुख्य रूप से आर्थिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त विशेष व्यक्तियों द्वारा अपना लिया गया। अब यह केवल विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि दैनिक गतिविधियों को भी प्रभावित करने लगा। धीरे-धीरे राजसी और राजनैतिक संरक्षण में इसका संस्कृतिकरण हुआ और यह समाप्त हो गया।

अब इसकी विरासत दृष्टिगत होती है लेकिन इसका स्वरूप कमज़ोर और लुप्त सा हो गया है।

बोध प्रश्न 2

1) महिलाओं के प्रति व्यवहार में तन्त्रवाद अन्य परम्पराओं से कैसे भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) तन्त्रवाद का अन्य धार्मिक परंपराओं के साथ विलय क्यों हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

16.7 सारांश

भक्ति आन्दोलन ने सामाजिक व्यवस्था के उत्पीड़न की आलोचना की, लेकिन सामाजिक व्यवस्था की नहीं। *भक्ति* आन्दोलन का महत्व इसके द्वारा एक शक्तिशाली विचारधारा और विभिन्न सामाजिक समहों को एकीकरण प्रदान करने में निहित है। *भक्ति* आन्दोलन में रूढ़ियों का उल्लंघन और उत्कर्ष साथ-साथ चला। इस प्रकार *भक्ति* आन्दोलन ने उस समय मौजूदा परिस्थितियों की आलोचना की। इसने यह स्थापित किया कि लोगों का महत्व उनके द्वारा किये गये कार्यों में था ना कि इसमें की उनका जन्म कहाँ हुआ था। तांत्रिक प्रथाओं ने लोगों के बीच *जाति* या लिंग के आधार पर भेद-भाव नहीं किया। तन्त्रवाद ने महिलाओं को एक अलग तरह की प्रमुखता दी और इसमें बड़ी संख्या में देवियाँ थी। तन्त्रवाद ने स्वयं को विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के साथ जोड़ा और अंततः मुख्यधारा के व्यवहार और विश्वास में निरंतरता बनी रही।

कुछ अर्थों में दोनों घटनाएँ समान हैं। *भक्ति* में धर्म-गुरू का रूप ब्राहमण से सन्त कवि के रूप में बदल गया, जबकि तन्त्रवाद ने लोक-परम्पराओं और स्त्री-शक्ति पर बल देकर धर्म को समावेशी बनाया। धर्म-ग्रन्थों का माध्यम संस्कृत से बदलकर देशी और लोकप्रिय हो गया। यह शुरू में *ब्राह्मण*वाद के विरूद्ध सामाजिक समानता के लिए खड़ा हुआ, हालांकि अन्त में इसका उपयोग सत्तारूढ़ कुलीन वर्ग द्वारा सामाजिक असमानता को मज़बूत करने और वैध ठहराने के लिए किया जाने लगा। इस प्रकार आन्दोलन का मूल रूप अन्त में क्षीण हो गया। इसी प्रकार तन्त्रवाद शुरू में वैदिक प्रभुत्व और पितृसत्ता के खिलाफ उभरा, लेकिन राजनैतिक संरक्षण ने इसके कट्टरपथी प्रभाव को कम कर दिया।

मोक्ष का मार्ग केवल तीन ऊपरी वर्णों के पुरुषों के लिए खुला था। अब एक अलग मार्ग के माध्यम से सभी के लिए खुल गया। अन्ततः दोनों परंपराओं ने सभी के लिए पूजा के समान अवसर प्रदान करने का प्रयास किया। उनकी लोकप्रियता ने ब्राहमणवाद और अन्य परम्पराओं में बदलाव को बढ़ावा भी दिया।

16.8 शब्दावली

दीक्षा : तन्त्रवाद में दीक्षा।

प्रकृति : स्त्री सिद्धान्त।

पुरुष : पुरुष सिद्धान्त।

शैववाद : शिव का पंथ और उसकी क्षेत्रीय अभिव्यक्तियाँ।

वैष्णववाद : अपनी क्षेत्रीय अभिव्यक्तियों के साथ विष्णु का पंथ।

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 16.2 देखें।

2) उपभाग 16.5 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 16.6 देखें।

2) उपभाग 16.6 देखें।

16.10 संदर्भ ग्रंथ

रामास्वामी, विजया (1997), *वॉकिंग नेकेडः वुमेन, सोसाइटी, इसपिरिचुएलिटी इन साउथ इंडिया*। शिमला।

भट्टाचार्या, एन. एन. (2005) *हिस्ट्री ऑफ़ द तांत्रिक रिलीजनः एन हिस्टॉरिकल, रिचुअलिस्टिक एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी*। दिल्ली।

MPDD/IGNOU/P.O. 97.5K/JANUARY 2020

ISBN: 978-93-89668-810